भगवान महावीर का व्यवहारिक दृष्टिकोण

- साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अनन्त विरोधी धर्मों के साथ सामंजस्य स्थापित कर चलते रहना ही जीवन की पूर्णता है। अनन्त ज्ञेय धर्मो का भी सीमित संवेदन से ज्ञान करने का प्रशस्त साधन है हमारे पास स्यादवाद। पर एक साथ अनन्त धर्मों का ज्ञान व्यवहार्य नहीं हो पाता। व्यवहार्य है हमारे लिए नयवाद या सदवाद उनके सहारे हम अनभीप्सित वस्तु के अंश को निराकृत किए बिना ही अभीप्सित अंश का बोध या प्रतिपादन कर सकते हैं।

निश्चय और व्यवहार हमारे चिन्तन के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न रूपों में निश्चय और व्यवहार-दोनों की सत्ता को स्वीकार किया है। जैन दर्शन ने उसे निश्चय और व्यवहार की अभिधा से अभिहित किया। बौद्ध दार्शनिकों ने उसे परमार्थ सत्य तथा लोकसंवृति सत्य से पहचाना। सांख्य दर्शन ने उसे परमब्रह्म तथा प्रपंच कह कर पुकारा।

स्यादवाद की भाषा में निश्चय और व्यवहार परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी वे एक वस्तु में एक साथ पाए जा सकते हैं। इस दृष्टि से दोनों में अद्वैत है। निश्चय वस्तु का आत्मगत धर्म है। वह सूक्ष्म है। व्यवहार वस्तु का देहगत धर्म है। वह स्थूल है। इस स्वरूप-मित्रता के कारण इन दोनों में द्वैत भी है। यद्यपि निश्चय निश्चय ही है और व्यवहार व्यवहार है। इनमें एकत्व नहीं हो सकता। निश्चय हमारा साध्य है। उसका साधन है - व्यवहार। इसीलिए सभी दार्शनिकों ने निश्चय के साथ व्यवहार को तत्त्वरूप में स्वीकार किया है। यहां तक कि व्यवहार को जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। क्योंकि निश्चय जहां उन्नत गिरिश्रृंग है, व्यवहार वहां तक पहुंचने के लिए घुमावदार पगडण्डी है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पथिक उसके बिना सीधा पर्वतारोहण कर सके, यह संभव नहीं। निश्चय फलगत रस है और व्यवहार है उसकी उत्पत्ति, वृद्धि और संरक्षण का हेतुभूत ऊपर का छिलका। निश्चय रेउ है और व्यवहार गमन-साधक पटरी।

साध्यावस्था में हम निश्चयमय बन जाते हैं पर साधनाकाल में निश्चय और व्यवहार घुले-मिले रहते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि लक्ष्य प्राप्ति के बाद जीवन की पूर्णता में व्यवहार हमारे लिए अनुपयोगी है। किन्तु जीवन की अपूर्णता में वह उतना ही उपयोगी है। वहा हम व्यवहार का त्याग कर नहीं चल सकते।

व्यवहार का अर्थ छलना या प्रवंचना नहीं है। उसका अर्थ है यथार्थ को भी बुद्धि, विवेक तथा कला के साथ प्रस्तुत करना। व्यवहार जीवन का कलात्मक पक्ष है। दूसरे शब्दों में कलात्मक जीवन पद्धति का नाम ही व्यवहार है। सत्य और शिव को जैसे सौन्दर्य की अपेक्षा है वैसे ही यथार्थ क्रिया भी कला के बिना अधूरापन लिए रहती है। उसकी पूर्ति व्यवहार करता है। व्यक्ति जहां अकेला होता है, वहां व्यवहार-पथ के अनुगमन की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। पर जहां समाज होता है, वहां परस्परता होती है। जहां परस्परता होती है, वहां व्यवहार अपेक्षित होता है।

व्यवहार पक्ष की उपदेयता को अभिव्यक्त करते हुए कवि ने कितना सुन्दर लिखा है -

काव्यं करोतु परिजल्पतइ संस्कृतं वा,
सर्वाः कलाः समधिगच्छतु वा यथेच्छम।
लोकस्थितिं यदि न वेत्ति यथामइरूपाम,
सर्वस्य मूर्खनिकरस्य स चक्रवर्ती।।

प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त व्यक्ति भी यदि लोक व्यवहार से अनभिज्ञ है तो वह मूर्ख चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित होता है। 'नद्यपि शुद्धं लोकविरूद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम' - इस उक्ति से लोक व्यवहार को निश्चय से भी अधिक महत्त्व प्राप्त है। इसीलिए तो यह निर्देश दिया गया है कि जिस कार्य को अपनी दृष्टि शुद्ध मानती है, वह कार्य यदि लोक विरूद्ध है तो उसका आचरण मत करो। व्यवहार कुशल व्यक्ति जहां पग-पग पर अप्रत्याशित सफलता प्राप्त करता है, वहां व्यवहार से अनभिज्ञ रहने वाले व्यक्ति को कदम-कदम मर असफलता का मुंह देखना पड़ता है। विद्वान लेखक की यह पंक्ति कितनी

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्मिक है - 'जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है अव्यवहारिक होना। वाचक उमास्वाति ने इसी बात को अपनी शिक्षात्मक रचना 'प्रशमरतिप्रकरण' में लिखा है -

लोकः खल्वाधरः सर्वेषां ब्रह्मवारिणां यस्मात।
तस्माल्लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम।।

निश्चय अदृश्य होता है, वह व्यवहार द्वारा गम्य होता है। किसी के साथ कितनी ही सदभावना क्यों न हो, पर जब तक वह व्यवहार में नहीं उतरेगी तब तक उसकी सचाई में विश्वास कम ही होता है। व्यवहार की उपादेयता को दृष्टिगत रखते हुए भगवान महावीर ने साधक के लिए स्थान-स्थान पर उसकी उपयोगिता बताई है। भगवान महावीर ने साधक के लिए दो साधनाक्रम प्रस्तुत किए - जिनकल्प तथ स्थविरकल्प। जिनकल्पी सहाय निरपेक्ष होकर एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी साधना विशिष्ट कोटि की होती है। अतः वे व्यवहारातीत होते हैं।

भगवान महावीर ने साधना के क्षेत्र में व्यवहार को कितना महत्त्व दिया है, यह जानने के लिा पूर्वों से निर्यूढ़ एक आगम 'दशवैकालिक' की छोटी-सी यात्रा की जा रही है। भगवान महावीर ने ऐसे अनेक विधिनिषेधों के संकेत दिए हैं, जिसें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में स्थूल दृष्टि से हिंसा आदि से बचने का ही दृष्टिकोण रहा है। पर कहीं ऐसे विधान और निषेध हैं, जहां हिंसा आदि से बचने की अपेक्षा व्यवहारिक दृष्टिकोण अधिक प्रबल रहा है। कहीं ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं, जहां हिंसा आदि की किंचित भी संभावना नहीं है, फिर भी वे कार्य निषिद्ध हैं।

साधुत्व स्वीकरण के बाद साधक की दिनचर्या का एक महत्त्वपूर्ण भाग है-भिक्षाचर्या। भिक्षा के बिना उसे कोई भी वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। इसीलिए भगवान ने कहा है - 'सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं'- साधु के लिए सब कुछ याचित होता है, अयाचित कुछ भी नहीं। इसीलिए भगवान महावीर ने भिक्षा-विधि का सुन्दर विश्लेषण किया। कार्य का जितना महत्त्व नहीं होता उतना विधि का होता है। प्रत्येक क्रिया के पीछे क्यों, कब, कैसे ? प्रश्न जुड़े होते हैं। इन प्रश्नों को उत्तरित करने वाली कार्य पद्धति ही व्यवहारिक उच्चता प्राप्त कर सकती है। मुनि भिक्षा के लिए कब जाए ? इसका सुन्दर समाधान देते हुए भगवान ने कहा - 'काले कालं समायरे' - जब भिक्षा का समय हो, तब जाए। काल का अतिक्रमण कर भिक्षार्थ जानेवाला भिक्षु निन्दा, तिरस्कार एवं अविश्वास

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कारण बन सकता है।

भिक्षार्थ जाता हुआ मुनि असंभ्रान्त रहे। क्योंकि संभ्रान्त अवस्था में मुनि शीघ्रता से चलता है। शीघ्रता के कारण ईर्या-समिति का पालन नहीं होता। चैतसिक विक्षिप्तता के कारण उचित-अनुचित का प्रश्न गौण हो जाता है। इन्हीं दोषों को ध्यान में रखते हंए भिक्षार्थ जाते समय साधु को असंभ्रान्त रहने का निर्देश दिया है।

भिक्षा के लिए प्रस्थित मुनि मन्द-मन्द गति से चले। यद्यपि भिक्षा के लिए संयत शीघ्र गति अविहित नहीं है। फिर भी व्यवहार में अच्छा नहीं लगता। क्योंकि दूसरे व्यक्ति उसके बारे में गलत अनुमान लगा सकते हैं। जैसे-यह भिक्षु इसलिए जल्दी चल रहा है कि अमुक वसति में अमुक भिक्षुक पहले न चला जाए या अमुक वस्तु उसे नहीं मिलेगी। दूसरे स्थान में यह भी बताया गया है कि साधु दबदब करता न चले। इससे प्रवचन की लघुता होती है।

गोचरी के लिए गया हुआ मुनि मार्ग में आलोक - झरोखा या खिड़की, थिग्गल - घर का वह द्वार जो किसी कारणवश पुनः चिना गया हो, संधि - दो घरों के बीच की गली या दीवार की ढंकी हुई सुराख और जंलमंचिका की तरफ न देखे। ये शंका स्थान हैं।[1] इन्हें इस प्रकार देखने से लोगों को मुनि पर चोर तथा पारदारिक होने का संदेह हो सकता है।

मुनि राजा, गृहपित - श्रेष्ठी और आरक्षकों के रहस्यमय स्थानों में न जाए। दूर से ही उन स्थानों का वर्जन करे। क्योंकि ये स्थान संक्लेशकर होते हैं।[2] इन रहस्यमय स्थानों में जाने से साधु के प्रति स्त्रियों के अपहरण करने तथा मन्त्रभेद होने का सन्देह हो सकता है। सन्देहवश साधु को गिरफ्तार किया जा सकता है। अन्य भी अनेक प्रकार के कष्ट पहुंचाए जा सकते हैं। जिससे व्यर्थ ही साधु को अवहेलना का पात्र बनना पड़ता है।

मुनि प्रतिक्रुष्ट कुलों में भिक्षा के लिए न जाए।[3] प्रतिक्रुष्ट का शाब्दिक अर्थ है - निन्दित, जुगुप्सित तथा गर्हित। व्याख्याकारों के अनुसार प्रतिक्रुष्ट दो तरह के होते हैं - अल्पकालिक और यावत्कालिक। अल्पकालिक - मृतक, सूतक आदि के घर। डोम-मातंग आदि के घर यावत्कालिक - सर्वदा प्रतिक्रुष्ट हैं।

---

१. दसवेआलियं - ५/१/१५
२. वही - ५/१/१६
३. दसवेआलियं ५/१/१७

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह स्पष्ट है कि यह निषेध व्यावहारिक भूमिका को ही छूनेवाला है। उपरोक्त कुलों में भिक्षा करने से साधक की साधना में कोई बाधा नहीं आ सकती है। फिर भी इस प्रसंग की चर्चा को समाहित करते हुए टीकाकार लिखते हैं - जुगुप्सित कुलों की भिक्षा लेने से जैन शासन की लघुता होती है। जैन दर्शन का अध्येता इस बात से अनभिज्ञ नहीं है कि वह जातिवाद को तात्त्विक नहीं मानता। उसके आधार पर किसी को हीन तथा जुगुप्सित मानना हिंसा है। फिर भी प्रतिक्रुष्ट कुलों की भिक्षा का निषेध किया गया है। जहां तक हम समझ पाए है वैदिक परम्परा के बढ़ते हुए प्रभाव को ध्यान में रखकर ही इसका निषेध किया गया है।

भिक्षु संसक्त दृष्टि से न देखे। यह सामान्य कथन है। इसका वाच्यार्थ यह है कि साधु एवं साध्वी क्रमशः बहन तथा भाई की दृष्टि में दृष्टि में दृष्टि गड़ाकर न देखे। इस निषेध के दो कारण बताए गए हैं। पहला निश्चय की भुमिका पर अवस्थित है। आसक्त दृष्टि से देखने पर ब्रह्मचर्य पीड़ित होता है। दूसरा कारण व्यवहार से संबंधित है। हृदय शुद्ध होने पर भी इस प्रकार देखने से लोग आक्षेप कर सकते हैं कि यह मुनि विकार-ग्रस्त है।

भिक्षा ग्रहण करते समय भिक्षु अपनी दृष्टि संयत रखे। अति दूरस्थ वस्तुओं को न देखे। इस प्रकार देखने से मुनि के चोर या पारदारिक होने की आशंका हो सकती है। भिक्षार्थ गृहस्थ के घर में प्रविष्ट मुनि विकसित नेत्रों से न देखे।[1] इससे मुनि की लघुता होती है।

आहार आदि के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने के बाद मुनि अन्दर कहां तक जाए ? इसका संकेत देते हुए भगवान महावीर ने कहा - मुनि अतिभूमि में न जाए। कुलभूमि को जानकर मितभूमि में प्रवेश करे।[2] गृहस्वामी के द्वारा वर्जित या अननइज्ञात भूमि अतिभूमि है। गृहस्थ के द्वारा अवर्जित भूमि मितभूमि है। मुनि के लिए स्नान-गृह तथा शौच-गृह देखने का भी निषेध किया है।

भिक्षा में यदि अमनोज्ञ और अपथ्य जल आ जाए तो मुनि उसे गृहस्थों की भांति इतस्ततः न फेंके। किन्तु उसे लेकर वह विजनभुमि में जाए और वहां शुद्ध भूमि पर धीरे से

१. वही - ५/१/२३
२. दसवेआलियं ५/१/२४

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गिराए ताकि गंदगी न फैले। इस निर्देश में सभ्यता एवं शिष्टता की झलक परिलक्षित होती है। गृहस्थ समाज भी इस निर्देश का पालन करे तो गलियों में गंदगी से होने वाले प्रदूषण से बचा जा सकता है।

भिक्षाचरी की परिसम्पन्नता के बाद भोजन विधि को बताते हुए कहा गया है कि सामान्यतः भिक्षु गोचराग्र से वापस आकर आहार उपाश्रय में ही ग्रहण करे। यदि वह भिक्षार्थ दूसरे गांव में गया हुआ हो और कारणवश वहीं आहार करना पड़े तो वहां पर स्थित साधुओं के पास जाकर आहार करे। यदि अन्यत्र भोजन करना पड़े तो जहां कहीं भिखारियों की तरह न खाए, किन्तु शून्यगृह या कोष्ठक में बैठकर विधिपूर्वक खाए।

आहार में ग्रास के साथ कंकड़, कंटक आदि आ जाएं तो उन्हें सीधा मुंह से न थूके किन्तु आसन से उठकर कंकड़ आदि को हाथ में लेकर एकान्त स्थान में धीरे से रखे।

उपाश्रय में आकर आहार करने वाले मुमि के लिए भी अत्यन्त आकर्षक एवं मनोज्ञ विधि बतलाइ गई है। मुनि उपाश्रय में प्रविष्ट होते ही पाद-प्रमार्जन करे और 'निसीहिया' शब्द का उच्चारण करे। यह मुनि के कार्यनिवृत्त हो, स्थान में प्रवेश का सूचक है।

गुरु के समक्ष जाते ही बद्धांजलि हो 'णमो खमासमणाणं' कहकर गुरु का अभिवादन करे। यह विधि भी व्यवहार के अन्तर्गत ही है। इसका समावेश विनय के सात भेदों में से लोकोपचार विनय में होता है। लोकोपचार और व्यवहार एक ही तात्पर्यार्थ को बताने वाले शब्द हैं। जिस क्रम से तथा जहां से भिक्षा ग्रहण की हो, गुरु के समक्ष उसकी आलोचना करे। वह भी गुरु की अनुज्ञा प्राप्त कर।

आहार विधि की अपेक्षा से मुनि दो प्रकार के बताए गए हैं - प्रथम मंडली के साथ आहार करने वाले और दूसरे अकेले आहार करने वाले। प्रथम प्रकार के मुनि जब तक मंडली के सब मुनि न आ जाएं तब तक स्वाध्याय करें। आहार लेकर मैं लाया हूं, इस आहार पर मेरा ही अधिकार है, ऐसा सोचकर अकेला ही खाने के लिए न बैठ जाए।

अकेले आहार करने वाले मुनि भी भिक्षा लाकर कुछ समय विश्राम करे। विश्राम के समय में स्थिरता से चिन्तन करे। फिर आचार्य से निवेदन करे - भगवान! इस आहार से यथेच्छ आहार आप स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें। यदि आचार्य न लें तो चह निवेदन करे - भन्ते! यह भोजन आप अतिथि, ग्लान, शैक्ष, तपस्वी, बाल तथा वृद्ध - इनमें

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से किसी को देना चाहें तो दें। प्रार्थना स्वीकार कर यदि आचार्य अतिथि को दें तो प्रजन्नमना वह साधु अवशिष्ट आहार को आचार्य की अनुज्ञा प्राप्त कर स्वयं खाले। यदि आचार्य कहें कि तुम ही साधर्मिकों को निमंत्रित करो। उन्हें अपेक्षा हो तो दे दो। तब वह स्वयं मुनिजनों को सादर निमंत्रित करे। वे यदि निमन्त्रण स्वीकार कर लें तो उनके साथ भोजन करे। यदि वे निमन्त्रण स्वीकार न करें तो अकेला ही भोजन कर ले। यहां आदर पूर्वक निमन्त्रण देने का उल्लेख किया गया है। अवज्ञा से निमंन्त्रण देना साधु संघ का अपमान करना है। कहा भी है -

एगम्मि हीलयम्मि, सव्वे ते हीलिया हुंति।
एगम्मि पूययम्मि, सव्वे ते पूइया हुंति।।

जो एक भी साधु का अपमान करता है, वह सब साधुओं का अपमान करता है। जो एक का सत्कार करता है, वह सबका सत्कार करता है।

'काले कालं समायरे'- इस सूक्त के अनुसार चलने से ही मुनि की दिनचर्या सुन्दर तथा आकर्षक बन सकती है। यह तक सुन्दर व्यवस्था है व्यवस्था से सौन्दर्य निखरता है। यदि व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के लिए समय विभक्त हो जाए और ठीक समय पर चह सम्पादित किया जाए तो कभी दौड़-धूप नहीं करनी पड़ती। इससे सारे कार्य आसानी से सध सकते हैं। समय का सही उपयोग हो सकता है और किसी भी कार्य के लिए जल्दबाजी नहीं करनी पड़ती। इससे स्नायुओं का तनाव नहीं बढ़ता और अस्वास्थ्य भी नहीं बढ़ता।

समय की नियमितता के अभाव में जल्दबाजी करनी पड़ती है, उससे स्नायविक तनाव बढ़ता है और शारीरिक रोग भी जाग उठते हैं। इससे सारी व्यवस्थाएं गड़बड़ा जाती हैं। हम जिस दिन जो कार्य करना चाहते हैं, वह हो नहीं पाता। महात्मा गांधी ने लिखा है - 'कार्य की अधिकता व्यक्ति को नहीं मारती, किन्तु समय की अव्यवस्था उसे बुरी तरह मार डालती है।' कार्य की व्यवस्था जहां साधक की चित्त विक्षिप्तता को रोककर मनः स्थैर्य प्रदान करती है, वहां बाह्य व्यवहार को भी सुघड़ बना देती है।

यद्यपि यह भिक्षा का प्रसंग है। अतः स्थूल रूप से यही आभासित होता है कि भिक्षा के समय भिक्षा करनी चाहिए। अन्यथा लेकिन 'काले कालं समायरे' यह पद अपने आप में दतना अर्थ वैशद्य छिपाए हुए है कि मुनि की प्रत्येक क्रिया के लिए यथाकाल

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादन करने का संकेत देता है। सूत्रकृतांग के चूर्णिकार भी इसी का अनुमोंदन करते हुए लिखते हैं कि मुनि भिक्षा के समय भिक्षा करे। खाने के समय खाए। पीने के समय पीए। वस्त्रकाल में वस्त्र ग्रवण करे। लयनकाल में (गुफादि में रहने के समय अर्थात वर्षाकाल में) लयन में निवास करे। सोने के समय सोए। समय की नियमितता का महत्त्व निश्चय दृष्टि से भी है। क्योंकि उसके व्यतिक्रम से चित्त-विक्षेप होता है और मानसिक समाधि में विघ्न होता है, पर व्यवहार भी अपनी स्वस्थता खो देता है। वह मुनि लापरवाह कहलाता है।

भिक्षार्थ गया हुआ मुनि गुहस्थ के घर में न बैठे। न ही वहां कथाप्रबन्ध करे।[1]

भिक्षु भिक्षा ग्रहण करे, उतने समय तक उसे वहां खड़ा रहना पड़ता है। साधक वहां कैसे खड़ा रहे ? इसका विवेक भी भगवान महावीर ने दिया है - मुनि अर्गला, परिघा, द्वार, कपाट आदि का सहारा लेकर खड़ा न रहे।[2] इससे मुनि की लघुता लगती है और कहीं गिर पड़ने से चोट लगने का भी भय रहता है।

भिक्षा के लिए मुनि गृहस्थ के घर जाता है, उस समय द्वार पर यदि कोई श्रमण, ब्राह्मण, कृपण तथा भिखारी खड़े हो तो अनेको लांघकर अन्दर प्रवेश न करे और न गृहस्वामी तथा श्रमण आदि की आंखों के सामने खड़ा रहे। वनीपक आदि को लांघ कर अन्दर प्रवेश करने से गृहपति तथा वनीपक आदि को साधुओं से अप्रीति हो सकती है अथवा जैन शासन की लघुता प्रदर्शित होती है।[3]

गुहस्वामी द्वारा निषेध कर देने पर अथवा दान दे देने पर जब वे लौट जाएं तब मुनि उस घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट हो।[4]

मुनि सामुदायिक भिक्षा करे। केवल जुगुप्सित कुलों को छोड़कर उच्चनीच कुलों का भेदभाव न रखते हुए सब घरों से भिक्षा ले। यह न हो कि वह सामुदानिक भिक्षा के क्रम में छोटे घरों को छोड़कर केवल बड़े-बड़े घरों की ही भिक्षा कर ले।[5] क्योंकि इससे जातिवाद को बढ़ावा मिलता है। साधारण व्यक्ति सोचते हैं कि मुनिजी भी हमारी भिक्षा न लेकर हमारा तिरस्कार कर रहे हैं।

---

१. दसवेआलियं ५/२/८
२. वही - ५/२/६
३. दसवेआलियं ५/२/१०-१२
४. वही - ५/२/१३
५. वही - ५/२/२५

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोजनवश गृहस्थ के घर जाए तो मुनि उचित स्थान पर खड़ा रहे तथा बोलना आवश्यक हो तो सीमित बोले।[1]

साधु अनेक कुलों में जाता है। अनेक व्यक्तियों से सम्पर्क साधता है। कानों को अनेक बातें सुनने को मिलती हैं। आंखों को अनेक दृश्य देखने को मिलते हैं। किन्तु साधक के लिए दृष्ट तथा श्रुत सभी बातें कहना उचित नहीं है।[2] यह विचारधारा अहिंसा की सबल भित्ति पर तो सुस्थिर है ही, पर इस नीति से संघीय तथा सामाजिक जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध भी मधुर बने रहते हैं।

साधु मनोनुकूल आहार तथा अन्य वांछित पदार्थ न मिलने पर बकवास न करे। उसका वाक-प्रयोग संयत हो। मुमुक्ष मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करे। क्योंकि क्रोध प्रीति का, अभिमान विनय का, माया मित्रों का तथा लोभ सब हितों का नाश करने वाला है।[3]

जिस श्रमणधर्म से इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के बाद सुगति प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए मुनि बहुश्रुत साधुओं की पर्युपासना करे और अर्थाविनिश्चय के लिए प्रश्न करे।[4]

उपासना के समय गुरु के पास कैसे बैठे, इसकी विधि बताते हुए लिखा है - जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर तथा शरीर को आलस्यवश न मोड़े। गुरु के पास आलीन-गुप्त होकर बैठे।[5] आलीन - थोड़ा लीन। तात्पर्य की भाषा में जो गुरु के पास न अति निकट और न अति दूर बैठे वह आलीन कहलाता है। गुरु के वचन सुनने में दत्तावधान तथा प्रयोजनवश सीमित वाक व्यवहार करनेवाला गुप्त कहलाता है।

शिष्य को गुरु के समीप बैठने की भी विधि बताई है - शिष्य गुरु के पार्श्व-भाग में आसन्न न बैठे, बराबर न बैठे, आगे न बैठे, पीछे न बैठे तथ उनके घुटने से घुटने सटाकर न बैठे।[6] क्योंकि पार्श्व-भाग के निकट बराबर बैठने से शिष्य द्वारा समुच्चारित

---

१. वही - ८/१६
२. वही - ८/२०
३. दसवेआलियं ८/३६,३७
४. वही - ८/४३
५. वही - ८/४४
६. वही - ८/४५

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द सीधे गुरु के कान में जाते हैं। जिससे गुरु की एकाग्रता भंग हो सकती है। गुरु के आगे अत्यन्त निकट बैठने से अविनय होता है तथा दर्शनार्थियों के गुरु-दर्शन में बाधा पहुंचती है। पीछे बैठने के निषेध का एक कारण यह भी हो सकता है कि पीछे बैठने से गुरु के दर्शन नहीं हो पाते। उसके अभाव में शिष्य गुरु के इंगित-आकार को समझ नहीं पाता। गुरु के घुटनों से घुटना सटाकर बैठने से भी विनय का अतिक्रमण होता है, अशिष्टता द्योतित होती है। सारांश की भाषा में मुनि किसी भी स्थिति में असभ्य और अशिष्ट तरीके से गुरु के पास नहीं बैठे।

मुनि बिना प्रयोजन बिना पूछे बीच में न बोले। दो व्यक्ति परस्पर बात कर रहे हों अथवा गुरु किसी के साथ बात करें, उस समय यह कार्य ऐसे नहीं, बल्कि ऐसे हुआ - इस प्रकार बीच में न बोले। चुगली न खाए - परीक्ष में किसी का दोष न कहे और कपटपूर्ण असत्य का वर्जन करे।[1]

मुनि ने जिस भाषा का विषय अपनी आंखों से देखा हो वह भी यदि अनुपघातकारी हो तो अमन्द और अनुच्च स्वर के साथ सभ्यता से कहे। भाषा स्वर, व्यंजन, पद आदि से सहित तथा स्पष्ट होनी चाहिए। भाषा की अस्पष्टता से सुननेवाला आशय नहीं समझ सकता। वक्ता को बार-बार बोलना पड़ता है। फिर भी न समझने पर श्रोता को झुंझलाहट आ सकती है। अतः एक बार सुनते ही भाषा का आशय हृदयंगम हो जाए, एसी स्पष्ट भाषा बोलनी चाविए।

आचारंग और पज्ञप्ति - भगवती को धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढ़ते बाला मुनि यदि बोलने में स्खलित हुआ है, उसने वचन, लिंग और वर्ण आदि का विपर्यास किया है तो भी मुनि उसका उपहास न करे।[2]

धर्म का मूल है विनय और उसका अन्तिम फल है मोक्ष। जैन आगमों में विनय का प्रयोग आचार एवं उसकी विविध धाराओं के अर्थ में हुआ है। नम्रता उस व्यापक विनय सरिता की एक धारा है। उसका सातवां प्रकार है उपचार विनय। यद्यपि विनय का सीधा सम्बन्ध अपनी आत्मा से है। विनय अपना ही होता है, अन्य का नहीं। नम्रता आत्मा का सहज गुण है। फिर भी पूर्वाचार्यों ने उपचार विनय - व्यवहार विनय को भी महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया है।

---

१. दसवेआलियं ८/४६
२. वही - ८/४६

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु तथा रत्नाधिक मुनियों के आगमन पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, भक्ति एवं शुश्रुषा करना उपचार-विनय है। उपचार-विनय आचार-विनय की पीष्ठभूमि है। उत्तराध्ययन में इसका सुन्दर दिग्दर्शन मिलता है --

अभुटठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ[1]।।

जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण आहुति और मन्त्रपदों से अभिषिक्त यज्ञाग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्त ज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करे।[2] ज्ञान और आचार की आराधना करने वाला मुनि आचार्य के आदेश का लंघन न करे।

जिससे धर्मपदों की शिक्षा ग्रहण करे, उसके प्रति शिक्षार्थी मुनि विनय का प्रयोग करे। उसे बद्धांजलि तथा नतमस्तक हो वन्दन करे। वह मन, वाणी तथा काया से सदा उसका विनय करे।[3]

शिष्य आचार्य की शय्या(बिछौना) से अपनी शय्या नीचे स्थान में करे। गति भी नीची रखे अर्थात आचार्य के आगे-आगे न चले, पीछे चले। चूर्णिकार लिखते हैं - शिष्य गुरु के अति समीप तथा अति दूर न चले। अति समीप चलने से रजकण उड़ते हैं। इससे गुरु की आशातना होती है। अति दूर चलने से प्रत्यनीकता का आभास होता है।

आचार्य जहां खड़े हों, शिष्य उनसे नीचे स्थान में खड़ा रहे। चूर्णि के अनुसार नीचे स्थान में भी गुरु के आगे तथा बराबर खड़ा न रहे। अपना आसन भी गुरु के आसन से नीचा बिछाए।

शिष्य प्रणत होकर गुरु-चरणों में वन्दन करे। यद्यपि आचार्य ऊपर आसन पर विद्यमान हैं और शिष्य नीचे खड़ा है फिर भी वह सीधा खड़ा-खड़ा वन्दन न करे, अपितु चरण-स्पर्श हो सके उतना झुककर करे। सीधा खड़े रहकर वन्दन करने से उसका अक्खड़पन आभाजित होता है। वन्दना के लिए सीधा खड़ा-खड़ा हाथ न जोड़े, कुछ नीचे झुके।[4]

---

१. उत्तरज्झयणाणि ३०/३२
२. दसवेआलियं ६/१/११
३. वही - ६/१/१२
४. वही - ६/२/१७

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य के निश्रित उपकरणों से यदि शिष्य का अनुचित स्पर्श हो जाए, उनके पैर लग जाए, ठोकर लग जाए तो वह बद्धांजलि और नत मस्तक हो निवेदन करे कि भगवन ! मेरे अपराध के लिए क्षमा करें। भविष्य में मैं ऐसा अपराध न करने का संकल्प करता हूं।[1] पूज्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है - 'आलोइयं इंगियमेव नच्चा जो छन्द माराहयइ स पुज्जो'। विनीत शिष्य गुरु द्वारा निर्दिष्ट कार्य करता ही है, पर इसी में उसके कार्य की इतिश्री नहीं हो जाती। वह गुरु के निरीक्षण तथा इंगित को देखकर उनके अभिप्राय को समझ लेता है और कार्य-सम्पादन में जुट जाता है।

आलोकित से कर्तव्य बोध: जैसे - सर्दी के समय में आचार्य वस्त्र की ओर देखते हैं तो विनीत शिष्य समझ लेता है कि आचार्यवर शीत से बाधित हैं, उन्हें वस्त्र की अपेक्षा है। और वह झट उठ कर वस्त्र गुरु को दे देता है।

इंगित से कर्त्तव्य-बोध : जैसे-आचार्य के कफ का प्रकोप है, दवा की आवश्यकता है। पर उन्होंने किसी को कुछ कहा नहीं, फिर भी विनीत शिष्य गुरु के मनोभावों को व्यक्त करने वाली अंगचेष्टा से समझ लेता है और उनके लिए सौंठ ले आता है।

दशवैकालिक सूत्र में ऐसी और भी अनेक शिक्षाएं उपलब्ध हैं, जो सामूहिक जीवन-व्यवहार को सजाती-संवारती हैं तथा उसमें रस भरती हैं। यह तो हम पहले ही जान चुके हैं कि जीवन की अपूर्ण अवस्था में या साधना काल में निश्वय तथा व्यवहार परस्पर जुड़े हुए रहते हैं। निश्चय यदि शुद्ध आत्मतत्त्व है तो व्यवहार देह है। क्या सांसारिक आत्मा कभी देहमुक्त होकर रह सकती है ? व्यवहारशून्य निश्चय समूह-चेतना की दृष्टि से अनुपयोगी एवं अव्यवहार्य है और निश्चयविहीन व्यवहार जगत में भी वह हमारी मार्गदर्शिका है। प्रस्तुत निबन्ध में उसकी नैश्चयिक दृष्टि को गौण रखकर उसके व्यवहार पक्ष को उजागर किया गया है। महावीर का व्यावहारिक दृष्टिकोण साधु-संस्थाओं के लिए ही नहीं, पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी बहुत उपयोगी हो सकता है। काश ! मनुष्य उसे समझकर आत्मसात कर पाता।

---

१. वही - ६/२/१८

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org